दशवैकालिक सूत्र में गुप्तित्रय का विवेचन

डॉ. श्वेता जैन

श्रमण-जीवन में मन, वचन एवं काया की अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति आवश्यक है, जिसे गुप्ति कहा जाता है। मुनि के आध्यात्मिक-विकास में त्रिगुप्ति की विशेष भूमिका होती है। विदुषी डॉ. श्वेता जैन ने दशवैकालिक सूत्र, उसकी निर्युक्ति आदि के आधार पर यह चिन्तनपूर्ण आलेख प्रस्तुत किया है। -सम्पादक

श्रमण-जीवन के दो पक्ष हैं- आध्यात्मिक और व्यावहारिक। अध्यात्म पक्ष मन, वचन और काया के निग्रह से सम्बन्धित है, जिसे साधु-भाषा में त्रिगुप्ति कहते हैं। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत चलना, बोलना, भिक्षा लेना, पात्रादि लेना, रखना, विसर्जन क्रिया करना सम्मिलित है, जो एक श्रमण के सम्पूर्ण जीवन की बाह्य चर्या है। इस चर्या को यतना पूर्वक करना 'समिति' है। अतः समिति और गुप्ति से युक्त जीवन मुनि के क्रमशः व्यावहारिक और आध्यात्मिक जीवन शैली को प्रकट करता है।

अष्ट प्रवचन माता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना श्रमणत्व है। श्रमणत्व धर्म को सीखने का दशवैकालिक सूत्र प्रकृष्ट माध्यम है। दशवैकालिक सूत्र में पाँच समिति में से एषणा-समिति का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है तथा त्रिगुप्ति विषयक चर्चा स्थान-स्थान पर उपलब्ध होती है। त्रिगुप्ति विषयक चर्चा को संगृहीत कर इस लेख में संयोजित किया गया है।

मनोगुप्ति

मन को 'चित्त' से भी अभिहित किया गया है। चित्त या मन का निग्रह करना मनोगुप्ति है। अनादिकाल से संसार मार्ग (क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह) में प्रवृत्त चित्त को स्वधर्म (अक्रोध, अमान,अमाया आदि) में स्थित कर लेना 'मनोनिग्रह' है। अतः दशवैकालिक के प्रणेता मुनि शय्यंभव कहते हैं- **'नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ'**[1] अर्थात् ज्ञान से चित्त एकाग्र होता है और धर्म में स्थित होता है।

भेद विज्ञान : मन-निग्रह का प्रथम सोपान

ज्ञान द्वारा चित्त धर्म में स्थित होता है। यह विचार प्रश्न उपस्थित करता है कि वह ज्ञान कौनसा है, कैसा उसका स्वरूप है, जो मन या चित्त को स्थिर करने में सहयोगी होता है। शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं इसका अनुभव करना 'भेद विज्ञान' है। यह भेद विज्ञान ही वह ज्ञान है जो चित्त को स्थिर बनाता है। इस सम्बन्ध में मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) ने **'न सा महं नोवि अहं पि तीसे'** पद्यांश के चिन्तन में लिखा है-'' यह भेद-चिन्तन का सूत्र है। लगभग सभी अध्यात्म-चिन्तकों ने भेद-चिन्तन को

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

मोह-त्याग का बहुत बड़ा साधन माना है। इसका प्रारम्भ बाहरी वस्तुओं से होता है और अन्त में **'अन्यच्छरीरमन्योऽहम्'**- यह मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं इससे भिन्न हूँ- यहाँ तक पहुँच जाता है।''[2] यह भेद-विज्ञान आत्म-भिन्न विषयों में आसक्त इन्द्रियों को अनुशासित करता है और अनुशासित इन्द्रियाँ ही मन-निग्रह की प्रथम हेतु होती हैं। अतः भेदविज्ञान मनोनिग्रह का प्रथम सोपान है।

स्व की स्वतन्त्रता के बोध से प्रतिस्रोत में गति-

'मनो पुब्बङ्गमा धम्मा'[3]- मन ही सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है। मन के विचारों का क्रम दैनिक प्रवृत्तियों को अनुशासित करता है। मन में आए विचारों के अनुरूप चलते रहने का मतलब है निरन्तर उदय में आ रहे कर्मों के स्रोत में बहना। मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो इस स्रोत में चाहे तो बहे अन्यथा न बहे। बहने और न बहने का सामर्थ्य ही उसकी 'स्वतन्त्रता' है। यही स्वतन्त्रता संयम की ओर बढ़ने का, इन्द्रिय-निग्रह का, स्व में स्थित होने का, निरपेक्ष होने का, मोह रहित होने का, मन की पूर्ण शुद्धि का, जन्म-मरण की परम्परा को तोड़ने का, संसार-सागर से पार होने का, समिति-गुप्ति के निर्वहन का, अनुस्रोत से प्रतिस्रोत में आने का और मुक्ति प्राप्त करने का हेतु है। दशवैकालिकसूत्रकार ने कर्मों के आस्रव में बहने को अनुस्रोत तथा उसमें तटस्थ होकर संयमित रहने को प्रतिस्रोत कहा है, आगम के शब्दों में-

अणुसोयपट्ठिएबहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं।।
अणुसोयसुहो लोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं
अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो।।[4]

अभिप्राय यह है कि अधिकांश लोग अनुस्रोत में प्रस्थान कर रहे हैं अर्थात् भोग मार्ग की ओर जा रहे हैं। किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए अर्थात् विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए। जनसाधारण को स्रोत के अनुकूल चलने में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु जो सुविहित साधु है, उसका आश्रव-प्रतिस्रोत[5] (इन्द्रिय-विजय) होता है। अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उत्तार है। (जन्म-मरण से रहित होना है)

मन में उत्पन्न काम का निग्रह किये बिना श्रामण्य असंभव

'संकल्पमूलः कामो वै'[6] काम का मूल संकल्प है। संकल्प से काम और काम से विषाद- यह इनके उत्पन्न होने का क्रम है। इस क्रम को भंग करना काम का निग्रह है। जिसे अगस्त्य चूर्णि में उद्धृत श्लोक में इस प्रकार कहा है-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि।।[7]

काम! मैं तुझे जानता हूँ। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा। तू मेरे मन में उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा।

श्रमण के लिए काम-निवारण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए मुनि शय्यंभव कहते हैं-

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ।।[8]

वह श्रामण्य का पालन कैसे करेगा, जो काम (विषय-राग) का निवारण नहीं करता, जो संकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता है।

उपर्युक्त गाथा को स्पष्ट करते हुए निर्युक्तिकार ने काम के भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की है। जिसके अन्तर्गत काम के दो प्रकार बताए हैं- द्रव्य काम और भाव काम।[9] जो मोह के उदय के हेतु भूत द्रव्य हैं- जिनके सेवन से शब्दादि विषय उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य-काम हैं। भाव काम दो तरह के हैं- इच्छा-काम और मदन-काम।[10] अभिलाषारूप काम को 'इच्छा-काम' तथा वेदजनित को 'मदन काम' कहते हैं। श्रमणत्व पालन में सभी प्रकार के काम के निवारण की आवश्यकता होती है।

क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ- आहारादि का न मिलना, शय्या का अभाव- ऐसे परीषह साधु को होते ही रहते हैं। आक्रोश- कठोर वचन कहे जाने, तृण-स्पर्श की वेदना, उग्र विहार और मैल की असह्यता, एकान्तवास के भय, सत्कार-पुरस्कार की भावना, प्रज्ञा के न होने से हीन भावना से उत्पन्न हुई ग्लानि आदि अनेक स्थल हैं- जहाँ मनुष्य विचलित हो जाता है। परीषह, उपसर्ग और वेदना के समय आचार का भंग कर देना, खेद-खिन्न हो जाना, 'इससे तो पुनः गृहवास में चला जाना अच्छा' ऐसा सोचना, अनुताप करना, इन्द्रियों के विषय में फँस जाना, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) कर बैठना, इसे विषादग्रस्त होना कहते हैं। संयम और धर्म के प्रति अरुचि की भावना को उत्पन्न होने देना विषाद है।[11]

पग-पग पर विषादग्रस्त होने के सम्बन्ध में जिनदास महत्तर चूर्णि और हरिभ्रद सूरि की टीका में निम्नलिखित कथा प्राप्त होती है- एक वृद्ध पुरुष पुत्र सहित प्रव्रजित हुआ। चेला वृद्ध साधु को अतीव इष्ट था। एक बार दुःख प्रकट करते हुए वह कहने लगा- बिना जूते के चला नहीं जाता। अनुकम्पावश वृद्ध ने उसे जूतों की छूट दी। तब चेला बोला- ऊपर का तला ठण्ड से फटता है। वृद्ध ने मोजे करा दिए। तब कहने लगा-" सिर अत्यन्त जलने लगता है।" वृद्ध ने सिर ढंकने के वस्त्र की आज्ञा दी। तब बोला- भिक्षा के लिए नहीं घूमा जाता। वृद्ध ने वहीं उसे भोजन ला कर देना शुरु किया। फिर बोला- भूमि पर नहीं सोया जाता। वृद्ध ने बिछौने की आज्ञा दी। फिर बोला-"लोच करना नहीं बनता। वृद्ध ने क्षुर को

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

काम में लेने की आज्ञा दी। फिर बोला- "बिना स्नान नहीं रहा जाता।" वृद्ध ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस तरह वृद्ध साधु स्नेहवश बालक साधु की इच्छानुसार करता जाता था। काल बीतने पर बालक साधु बोला- मैं बिना स्त्री के नहीं रह सकता। वृद्ध ने यह जानकर कि यह शठ और अयोग्य है, उसे अपने आश्रय से दूर कर दिया।

इच्छाओं के वश होने वाला साधक इसी तरह बात-बात में शिथिल हो, कायरता दिखा अपना विनाश कर लेता है। इस प्रकार मन में उत्पन्न काम (इच्छा) का निग्रह किए बिना श्रामण्य का पालन असंभव है।

आतापना, सौकुमार्य-त्याग, राग-द्वेष का विनयन : मनोनिग्रह के साधन

"आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिन्दाहि दोसं विणएज्जरागं, एवं सुही होहिसि संपराए।।"[12]

प्रस्तुत पद्य में मनोनिग्रह के चार साधन कहे गए हैं- (1) आतापना, (2) सुकुमारता का त्याग, (3) द्वेष का उच्छेद और (4) राग का विनयन।

जिनदास चूर्णि में कहा है-" **सो य न सक्कइ उवचियसरीरेण णिग्गहेउं, तम्हा कायबलनिग्गहे इमं सुत्तं भण्णइ**" मन का निग्रह उपचित शरीर (अधिक मांस और शोणित से युक्त) से संभव नहीं होता। अतः कायबल निग्रह का उपाय बताया गया है। सर्दी-गर्मी में तितिक्षा रखना, शीत-काल में आवरणरहित होकर शीत सहना, ग्रीष्म काल में सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहना- यह सब आतापना तप है। सुकुमारता के कारण शरीर में कोमलता रहती है, जिसके कारण श्रमण-जीवन के कठोर नियमों के पालन में कठिनाई उत्पन्न होती है। अतः सुकुमारता के त्याग से मन नियमों का सुकरता से पालन करने योग्य बनता है। अनिष्ट विषयों के प्रति घृणा को 'द्वेष' तथा इष्ट विषयों के प्रति प्रीति को 'राग' कहते हैं। संयम के प्रति अरुचिभाव, घृणा, अरति को भी द्वेष कहा जाता है। राग और द्वेष- ये दोनों कर्म-बन्ध के हेतु हैं। अतः अनिष्ट विषयों में द्वेष का छेदन करना चाहिए तथा इष्ट विषयों के प्रति मन का नियमन करना चाहिए।

मोहोदय से मनुष्य विचलित हो जाता है। उस समय वह आत्मा की ओर ध्यान न देकर विषय-सुख की ओर दौड़ने लगता है। ऐसे संकट के समय संयम में पुनः स्थिर होने के उपर्युक्त चार उपाय बतलाए गए हैं। जो इन उपायों को अपनाता है वह आत्म-संग्राम में विजयी हो सुखी होता है।

संयम में अरति युक्त चित्त का अठारह स्थानों पर चिन्तन

संयम में रति उत्पन्न करने के लिए दशवैकालिक सूत्र की प्रथम चूलिका में ऐसे अठारह स्थानों का वर्णन किया गया है, जिन पर पुनःपुनः चिन्तन किया जाए तो अरति का निवारण हो जाता है। अतः चूलिका में कहा है-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण को मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया, संयम में अरति युक्त हो गया, संयम को छोड़कर गृहस्थ बनना चाहता है तो उसे निम्नलिखित अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थिरात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं-

1. अहो! इस दुषमा (दुःख बहुल पांचवे) आरे में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं।
2. गृहस्थों के काम-भोग स्वल्प-सार-सहित(तुच्छ) और अल्पकालिक हैं।
3. मनुष्य प्रायः माया बहुल होते हैं।
4. यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नहीं होगा।
5. गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है- सत्कार करना होता है।
6. संयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है- वमन को वापस पीना।
7. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय जीवन का अंगीकार।
8. अहो! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।
9. वहाँ आतंक वध के लिए होता है।
10. वहाँ संकल्प वध के लिए होता है।
11. गृहवास क्लेश सहित है और मुनि-पर्याय क्लेश-रहित।
12. गृहवास बन्धन है और मुनि-पर्याय मोक्ष।
13. गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य।
14. गृहस्थों के कामभोग बहुजन सामान्य हैं- सर्व सुलभ हैं।
15. पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।
16. ओह! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है।
17. ओह! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप कर्म किए हैं।
18. ओह! दुश्चरित्र और दुष्ट पराक्रम के द्वारा पूर्वकाल में अर्जित किए हुए पाप कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर लेने पर ही मोक्ष होता है- उनसे छुटकारा होता है। उन्हें भोगे बिना मोक्ष नहीं होता- उनसे छुटकारा नहीं होता।

वचन-गुप्ति

मोक्ष की साधना करते हुए मुनि वचन-व्यवहार भी करते हैं। वचन का व्यवहार कैसा होना चाहिए- यह समिति का विषय है, किन्तु वचन का कहाँ निग्रह करना है अर्थात् मौन रखना है- यह गुप्ति का विषय है। वचन की समिति और गुप्ति- इन दोनों के सम्बन्ध में 'वाक्य शुद्धि' नामक सातवें अध्याय में विस्तृत वर्णन है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

वाक्य-शुद्धि से संयम की शुद्धि होती है। अहिंसात्मक वाणी भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है। यह शुद्धि विवेकयुक्त होने पर सम्भव है। भाषा का गोपन विवेक के साथ होता है तब वह वचन-गुप्ति है। अन्यथा गोचरी में दो मोदक बिना बताए खा लेने के बाद गुरु के पूछे जाने पर शिष्य का मौन रहना 'वचन गुप्ति' कहलाएगा। यह वचन का गोपन अविवेक युक्त होने से वचन-गुप्ति नहीं है। अतः विवेकहीन मौन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा- ये चार भाषा के भेद किये गए हैं। असत्य और मिश्र भाषा मुनि के द्वारा सर्वथा त्याज्य हैं तथा सत्य और व्यवहार भाषा आचरणीय है। किन्तु इनमें भी जो बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण है वह वर्जनीय है। सत्य व व्यवहार भाषा बोलने के अवसर पर मौन रहने योग्य स्थानों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

सत्य होते हुए भी मुनि सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, शब्दकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, परितापनकरी और भूतोपघातिनी सत्य भाषा न बोले।[13] जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है-

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे ति वा।
वाहियं वा वि रोगी त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए।।[14]

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी तथा चोर को चोर नहीं कहना चाहिए।

लोक व्यवहार करते समय साधु को सावद्य, संशयकारिणी, मर्मकारी आदि भाषा से बचना चाहिए। इसके उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

1. 'हम जायेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूँगा' अथवा 'यह व्यक्ति यह कार्य करेगा'- इस प्रकार की भाषा जो भविष्य सम्बन्धी होने के कारण शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीत काल सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित हो, उसे मुनि को नहीं बोलना चाहिए।[15]
2. भाव-दोष सम्बन्धी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे स्त्री के लिए हे होले! हे गोले! हे वसुले! ये मधुर आमंत्रण हैं तथा सामिणी और गोमिणी चाटुता के आमन्त्रण हैं। अतः भाव-दोष की दृष्टि से लोक व्यवहार में साधु द्वारा किये गए ये सम्बोधन आचरण योग्य नहीं हैं। गृहस्थ काल के सम्बन्धियों को हे आर्यिके! (दादी), प्रार्थिके! (परदादी) हे बुआ!, हे मौसी!, हे पिता!, हे चाचा! आदि शब्दों से सम्बोधित नहीं करे।[16]
3. अग्रांकित सावद्य वचनों से साधु विरत रहे- मनुष्य, पशु-पक्षी और सांप को देख यह स्थूल, वध्य अथवा पाक्य है, ऐसा न कहे। गायें दुहने योग्य हैं, बैल दमन करने योग्य है, वहन करने योग्य हैं। प्रासाद का परिसर स्तम्भ, तोरण, घर, परिघ, अर्गला, नौका और जल की कुंडी के लिए उपयुक्त है। ये फल पक्व हैं, औषधियाँ काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं। ये सभी कथन साधु अपने गृहस्थ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन के अनुभवों से अभ्यासवश कह सकता है। अतः इन अवसरों पर अपने वचनों का जागरूकता के साथ गोपन करे।

4. नदी अच्छे घाट वाली है, (भोजन के सम्बन्ध में) बहुत अच्छा पकाया, (पत्र-शाक) बहुत अच्छा छेदा है, (चावल आदि) बहुत ही इष्ट है।- ऐसे वचन नहीं कहने चाहिए।
5. क्रय-विक्रय के प्रसंग में यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह माल अच्छा खरीदा, इस माल को ले, यह बहुत महंगा होने वाला है, यह अच्छा बेचा, यह बेचने योग्य है आदि वचनों को कहने से मुनि बचे।
6. सन्देशवाहक का कार्य मुनि को नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान मुनि गृहस्थ को बैठ, इधर आकर सो, ठहर या खड़ा हो जा, चला जा- इस प्रकार न कहे।
7. मनुष्य और तिर्यञ्चों का आपस में विग्रह (झगड़ा) होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो- ऐसा नहीं कहना चाहिए।
8. वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष और शिव- ये कब होंगे अथवा ये न हों तो अच्छा रहे- इस प्रकार न कहे।

इस प्रकार मुनि को सावद्य का अनुमोदन करने वाली, अवधारिणी और पर-उपघातकारिणी भाषा, क्रोध, लोभ, भय, मान या हास्यवश नहीं बोलना चाहिए।

काय-गुप्ति

'णाणस्स सारं आयारो' ज्ञान का सार आचार है। धर्मयुक्त क्रियाएँ आचार और अनाचार में विभाजित हैं। धर्म में धृतिमान श्रमण आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है। अहिंसा आचार है और हिंसा अनाचार है, मोक्षलक्ष्यी क्रियाएँ आचार है और संसारलक्ष्यी अनाचार। आचार काया से सम्बद्ध है, अतः आचार के प्रतिपक्ष अनाचार में काया का गोपन 'काय-गुप्ति' है।

श्रमण के 52 अनाचार कहे गए हैं। दशवैकालिककार ने अनाचारों का तृतीय अध्याय में उल्लेख संख्या के निर्देश के बगैर किया है। इसकी चूर्णि और वृत्ति में भी संख्या का उल्लेख नहीं है। दशवैकालिक दीपिका में "सर्वमेतत् पूर्वोक्तचतुःपञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचरितं ज्ञातव्यम्"[17] कहकर 54 संख्या का निर्देश किया है। वे इस प्रकार हैं-

1. औद्देशिक- साधु के निमित्त बनाए गए आहारादि का लेना।
2. क्रीतकृत- साधु के निमित्त क्रीत वस्तु का लेना।
3. नित्याग्र- निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना।
4. अभिहृत- दूर से लाए गए आहारादि ग्रहण करना।
5. रात्रिभोजन करना।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

6. स्नान करना।
7. गन्ध विलेपन करना।
8. माला आदि धारण करना।
9. बीजन- पंखा आदि से हवा करना।
10. सन्निधि- खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का संग्रह करना।
11. गृहि-अमत्र- गृहस्थ के पात्र में भोजन करना।
12. राज-पिण्ड- राजा के घर का आहार ग्रहण करना।
13. किमिच्छक- क्या चाहिए? ऐसा पूछ कर दिया हुआ आहारादि ग्रहण करना।
14. संबाधन- शरीर मर्दन करना।
15. दंतप्रधावन करना।
16. संपृच्छन- गृहस्थों से सावद्य प्रश्न करना।
17. देह-प्रलोकन- दर्पण आदि में शरीर देखना।
18. अष्टापद- शतरंज खेलना।
19. नालिका- द्यूत विशेष खेलना।
20. छत्र-धारण करना।
21. चिकित्सा- रोग का प्रतिकार करना।
22. जूता पहनना
23. अग्नि समारम्भ- सर्दी से बचने के लिए अग्नि जलाना।
24. शय्यातर-पिण्ड- स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना।
25. आसंदी (कुर्सी/ मञ्चादि) का व्यवहार करना।
26. पर्यङ्क (पलंग) का व्यवहार करना।
27. गृहि-निषद्या- भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना।
28. गात्र-उद्वर्तन- उबटन करना।
29. गृहि वैयावृत्त्य- गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना।
30. आजीववृत्तिता- जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन लेकर भिक्षा प्राप्त करना।
31. तप्तानिर्वृतभोजित्व- अर्ध-पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना।
32. आतुर स्मरण- आतुर दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना।
33. सचित्त मूलक- सजीव मूली आदि का सेवन करना।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

34. सचित्त शृंगबेर (अदरक) का सेवन करना।
35. सचित्त इक्षु-खण्ड का सेवन करना।
36. सचित्त कन्द का सेवन करना।
37. सचित्त मूल का सेवन करना।
38. सचित्त फल- अपक्व फल ग्रहण करना।
39. सचित्त बीज- अपक्व बीज ग्रहण करना।
40. सचित्त सौवर्चल लवण- अपक्व सौवर्चल नमक का उपयोग करना।
41. सचित्त सैंधव लवण- अपक्व सैन्धव नमक का उपयोग करना।
42. सचित्त लवण का उपयोग करना।
43. सचित्त रुमा लवण- अपक्व रुमा नामक लवण का उपयोग करना।
44. सचित्त सामुद्र लवण- अपक्व समुद्र लवण का उपयोग करना।
45. सचित्त पांशु-क्षार लवण- अपक्व ऊषर-भूमि का नमक प्रयोग करना।
46. सचित्त कृष्ण लवण का उपयोग करना।
47. धूम नेत्र- धूम्रपान की नलिका रखना।
48. वमन- रोग की संभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना।
49. वस्तिकर्म- अपानमार्ग से तेल आदि चढ़ाना।
50. विरेचन करना।
51. अंजन- आँखों में अंजन आंजना।
52. दंतवण- दाँतों को दतौन से घिसना।
53. गात्रअभ्यङ्ग- शरीर में तेल-मर्दन करना।
54. विभूषण- शरीर को अलंकृत करना।

उपर्युक्त अनाचारों की संख्या में अलग-अलग परम्पराओं में न्यूनाधिक्य देखने को मिलता है, किन्तु यह भेद संख्यागत है, तत्त्वतः नहीं। जब अनाचारों की संख्या 52 होती है तब उपर्युक्त 54 भेदों में क्रम संख्या (7) गंध एवं (8) माला को एक साथ गिना जाता है तथा (42) सचित्त लवण की पृथक् गणना नहीं की जाती है। जो कार्य मूलतः सावद्य हैं या जिनका हिंसा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वे हर परिस्थिति में अनाचीर्ण हैं, जैसे- सचित्त भोजन, रात्रि-भोजन आदि। जिनका निषेध विशेष विशुद्धि या संयम की उग्र साधना की दृष्टि से हुआ है, वे विशेष परिस्थिति में अनाचीर्ण नहीं रहते। जैसे- अंजन-विभूषा शृंगार की दृष्टि से हर समय अनाचार है, पर नेत्र-रोग की अवस्था में अंजन-प्रयोग अनाचार नहीं

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

है। सौन्दर्य के लिए वमन, वस्तिकर्म, विरेचन अनाचार हैं, रुग्णावस्था में यह अनाचार नहीं है। इस प्रकार संयम में बाधा पहुँचाने वाले अनाचार से विरत रहकर काय-गुप्ति का सम्यक् प्रकार से पालन किया जाता है।

सन्दर्भः-

1. दशवैकालिक सूत्र, 9.4.3
2. दसवेआलियं, जैन विश्वभारती, लाडनूं, 1973, 2.4, पृ.28
3. धम्मपद 1.1
4. दशवैकालिक सूत्र, द्वितीय चूलिका, गाथा 2,3
5. जिनदास चूर्णि में 'आसव-प्रतिस्रोत' का अर्थ इन्द्रिय-जय किया गया है- द्रष्टव्य, दसवेआलियं, पृ. 5.25
6. मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय, श्लोक 3
7. द्रष्टव्य- दसवेआलियं, पृ. 23
8. दशवैकालिक सूत्र, 2.1
9. दव्व कामा य भाव कामा य ||- दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा 161
10. सदद् रस रूव गंधा फासा, उदयं करा य जे दव्वा
    दुविहा य भावकामा, इच्छा कामा मयण कामा||- दशवैकालिक निर्युक्ति, 162
11. दसवेआलियं, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 1973, पृ.23
12. दशवैकालिक सूत्र, 2.5
13. तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कड्डयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं परित्तावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंखं नो भासेज्जा। - आचार चूला 4.10, द्रष्टव्य- दसवेआलियं, पृ. 348
14. दशवैकालिक सूत्र, 7.12
15. दशवैकालिक सूत्र, 7.6,7
16. दशवैकालिक सूत्र, 7.13-20
17. दशवैकालिक दीपिका, पृ.7-द्रष्टव्य- दसवेआलियं, पृ.39

- 12/7A, 'समता कुंज' जालम विलास स्कीम, पावटा 'बी' रोड़, जोधपुर (राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org